बौद्ध धर्म का समाज के वर्णो पर प्रभावः विश्लेषणात्मक अध्ययन

अभिनव अर्चना
पी–एच0डी0 इतिहास विभाग
तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)
Email: archusingh088@gmail.com

सारांश

बौद्ध धर्म समता तथा प्रेम पर आधारित अहिंसा प्रवण, कर्मनिष्ठ, नैतिक तथा जातिविहिन समाज का उन्नायक था। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति एवं विकास से संबंधित अनेक विचार धाराएँ प्रचलित है। जिनमें एक विचारधारा यह कहती है कि ये ब्राह्मण धर्म के नाम पर प्रचलित विकृतियों तथा कुरीतियों के विरूद्ध क्षत्रिय सुधारकों के विद्रोह थे। तो दूसरों के अनुसार ये आर्यों के यज्ञीय अनुष्ठानों से युक्त अत्यन्त प्राचीन धर्म के ऊपर पराजित अनार्यों के सुखकासित धर्म की विजय के द्योतक थे। उनकी अवधारणा से इस विजय का अपेक्षाकृत प्रामाणिक स्वरूप उपनिशदों, आरण्यकों में प्राप्य है। जिनमें वेदों के प्रति आस्था अक्षुण्य रखते हुए आर्येत्तर संस्कृति के उच्चतर तत्वों के साथ सामंजस्य स्थापना का प्रयास अत्यंत स्पष्ट है। एक तीसरा विचार यह है कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में नये मानवीय मूल्यों को पारिभाषित करने की आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ।

प्रस्तावना

बौद्ध धर्म का उद्भव ऐसे समय में हुआ, जब वैदिक धर्म पूर्णतः कर्मकांडी बन चुका था। धर्म का महत्व गौण हो गया था एवं आडंबरो की प्रधानता बढ़ गई थी। वेदों और पुरोहितों की सत्ता को प्रभावशाली ढ़ंग से चुनौती देने वाला कोई नहीं था। यज्ञ और बलि की प्रथा नई आर्थिक व्यवस्था के प्रतिकूल थी। सामाजिक जीवन भी असमानताओं और तनाव से परिपूर्ण था। ऐसी स्थिति में बुद्ध के उपदेशों ने जनता में नई उमंग एवं आशाएँ जागृत कर दी। बौद्ध धर्म को बिना पुरोहितों व यज्ञ–बलियों के अपनाया जा सकता था। बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति के लिए छुआछूत, ऊँच–नीच तथा स्त्री–पुरूष का विभेद नहीं रखा गया। अतः समाज के सभी वर्गों का ब्राह्मण धर्म से मोहभंग हुआ और उन्होंने बुद्ध के उपदेशों को अपना लिया। जिससे नए ध र्म की लोकप्रियता बढ़ी। वे स्वयं लोगों से मिलते, उनके दुःख दर्द को समझते और संसार में व्याप्त निरसता का उपदेश देते थे। अपने विरोधियों पर भी वे तर्क और प्रेम द्वारा विजय प्राप्त करते थे। उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण ही अंगुलिमाल जैसा क्रुर डाकू और आम्रपाली जैसी अधम गणिका तक बौद्धधर्म के अनुयायी बन गए। बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म या जैन धर्म की तुलना

में अत्यंत सरल था। इसमें ना तो पुरोहितों की जरूरत थी और न ही यज्ञ या बलि की। वेदों का ज्ञान भी आवश्यक नहीं था। कोई भी व्यक्ति सदाचारी जीवन अपनाकर जीवन का परम लक्ष्य निर्वाह प्राप्त कर सकता था।

बौद्ध धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए राम शरण शर्मा ने लिखा है कि भौतिक जीवन में हुए इन परिवर्त्तनों ने बहुत से प्राचीन मूल्यों पर कुठाराघात किया और नवीन मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयास किया। इस प्रकार कृषिकर्म में पशुओं के उपयोग ने आर्यों के धार्मिक यज्ञों में पशु बलि के रूप में अथवा पूर्वी क्षेत्रों के अर्द्धसमय अनार्य कबीलों में भोज्य सामग्री के रूप में नष्ट किये गये पशुधन की निरर्थकता प्रदर्शित की। राजशक्ति अथवा अर्थशक्ति के बढ़ते हुए महत्व ने जाति पर आधारित ब्राह्मण समाज के जलगत श्रेणी कर्म की भर्त्सना का द्वार खोला।[1] वस्तुतः बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और विकास के सामान्य अध्ययन से यह विदित है कि बुद्ध का काल न केवल धार्मिक आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि अपितु राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी दृष्टियों से युगान्तकारी था। छठी शताब्दी ई0 पू0 में पूर्वोत्तर भारत की जनता के सामने जो समस्याऐं खड़ी थी, उनकी ओर बौद्धों ने प्रबल जागरूकता दिखायी।[2] यदि यह कहा जाय कि बौद्ध धर्म समाज से घनिष्ठ संबंध था तो अयौक्तिक नहीं होगी। क्योंकि बिना समाज के बौद्ध धर्म एवं संघ की संकल्पना ही निराधार हो जायेगी।[3] इस अनिवार्य सत्य के होते हुए भी विद्वानों का अभिमत है कि बौद्ध धर्म का समाज पर इतना स्पष्ट वर्चस्व कभी भी दृष्टिगत नहीं हुआ कि उसे बौद्ध समाज की संज्ञा से अभिहित किया जा सके।[4] किंतु यह कथन भी एकाकी ही है क्योंकि बौद्ध धर्म एवं संघ वस्तुतः गृहत्यागियों का धर्म था जिसकी आधारशिला 'एको चरो खग्गविषाण कव्यों' का सिद्धांत था। अतएव एकान्तवास की इस अवधारणा की पृष्ठभूमि में किसी समाज की स्थापना एवं निर्माण या समाज पर प्रभाव एवं वर्चस्व कायम करने की भावना का अन्वेषण बौद्ध धर्म की स्थापना के मूल उद्देश्यों को ही नकारने का प्रयास प्रतीत होगा।

गौतम बुद्ध की सबसे बड़ी चिंता थी समाज के प्रत्येक वर्ग तक अपनी शिक्षाओं के माध्यम से पहुँचने की। सम्भवतः इसीलिए तथागत ने जनभाषा का ही प्रयोग किया। जिससे संवाद स्थापित करने में सत्यत्ता हो और ऐसा ही निर्देश भिक्षु–भिक्षुणियों को भी दिया था। इससे निष्कर्ष निकलता है कि भिक्षु–भिक्षुणी संघ की स्थापना, संख्या वृद्धि तथा भिक्षा–वृत्ति ने बौद्ध धर्म को समाज से निकटता के साथ जुड़ने के लिए बाध्य किया होगा। इस स्थिति के फलस्वरूप सामाजिक सम्पर्क इस स्तर तक प्रभावी हुआ कि भिक्षु–भिक्षुणियों में विनय तथा धर्म के साथ सामाजिक–ज्ञान के जानकार भी होने लगे थे। समाज से गौतम बुद्ध तथा भिक्षुओं को सहज ही सहयोग, सहकार प्राप्त होने लगा और वह इस सीमा तक प्रभावी एवं महत्वपूर्ण हुआ कि तथागत को भी अपनी दृष्टि से समाज को श्रद्धालु तथा अश्रद्धालु दो वर्गों में वर्गीकृत करने की आवश्यकता महसूस हुयी।[5] यहाँ यह बिन्दु विचारणीय हो जाता है कि बुद्ध ने जनसामान्य के लिए तथा समाज के नियमन–संयमन से संबंधित उपदेश भी दिये थे। इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि तथागत की मूल देशना लोकहिताय की था। बुद्ध अधिकाधिक लोगों तक अपनी देशना पहुँचाना चाहते थे। यह अलग तथ्य है कि बुद्ध का धर्म निवृत्ति मूलक था। अतएव उसका सम्यक

पालन परिब्राजक ही कर सकता था। जनसामान्य के नियम संयम हेतु तथागत ने कोई निर्देश नहीं दिया। उपासकों के लिए बौद्ध धर्म ने अपना अलग और पर्याप्त नैतिक सामाजिक आचार एवं संस्थाएँ नहीं निर्मित किया। किंतु इसका तात्पर्य यह कदाचित नहीं है कि बुद्ध जनसामान्य के प्रति उदासीन रहे। इसका सीधा–सीधा अर्थ यह है कि बुद्ध सामान्य उपासकों को दार्शनिक समस्याओं में उलझाना नहीं चाहते थे।

महात्मा बुद्ध ने समाज में व्याप्त अनैतिक आचार–विचार के विरूद्ध आवाज मुखरित किया, जो तत्कालीन समाज को अत्यंत सुखकर लगा। अहिंसा प्रवण समाज की संकल्पना बौद्ध धर्म की अनुठी देन है। बुद्ध मनसा–वाचा–कर्मणा अहिंसा के पक्ष में थे। चोरी, मानव–हिंसा, मैथुन यदि एक तरफ भिक्षु–भिक्षुओं के लिए सर्वथा वर्जित थी तो दूसरी तरफ जन सामान्य के लिए भी सर्वथा वर्जित थे।[6] इन्हें पालि साहित्य में पराजित दोष की श्रेणी में रखकर इसका व्यावहारिक प्रचार किया गया जो दिनभर पूरी ईमानदारी, निश्ठा एवं समर्पण के साथ अपनी जीविका–यापन करने वालो को सुखद लगा होगा। बुद्ध हिंसात्मक यज्ञों की घोर निंदा की।[7] लुब्धक, बधिक, कसाई, मांस–विपणन, मानव विक्रय आदि को बौद्ध साहित्य में निंदनीय बताते हुए इन्हें अप्रशस्त कार्यों की कोटि में रखा गया है। बौद्धों के लिए तो ये सर्वथा वर्जित थे।[8] बौद्ध धर्म में मानसिक हिंसा की भी निंदा की गई और असत्य वादन तथा अस्तेय को इसी कोटि में रखा गया है। बौद्ध धर्म का अहिंसा सिद्धांत जैन धर्म की तुलना में अधिक संयत तथा समाज द्वारा सहजता के साथ स्वीकार्य था।[9] बौद्ध धर्म मे जीव हत्या से बचने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। तथापि उसने अपने अनुयायिओं को किसी गैर बौद्ध कसाई द्वारा दिया गया मांस भक्षण करने से मना नहीं किया। लेकिन मवेशी की हत्या न करने पर बुद्ध ने सोच–समझकर खास जोर दिया।[10]

बौद्ध धर्म दर्शन में स्पष्टतः कहा गया कि जाति सर्वथा कर्मणाधृत है। कर्मानुसार कोई भी सामाजिक व्यक्ति अपने से उच्च या निम्न जाति से सम्प्रक्त हो सकता है। यहीं नहीं उसी जाति विशेष के बराबरी में सम्मान प्राप्त कर लेता है। पूर्वोत्तर भारत में सामाजिक संस्करण में छठी शताब्दी ई0 पू0 में क्षत्रिय आश्चर्यजनक ढ़ंग से प्रशासनिक क्षेत्रों के अतिरिक्त आध्यात्मिक क्षेत्रों मे थी अधिक सम्मानित एवं सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण दिखायी पड़ता है। राजन्य वर्ग से संबंधित क्षत्रिय वर्ग यदि एक तरफ दुर्जनों को दण्डित करता था तो दूसरी तरफ लोगों को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग करता था।[11] वे भौतिक वस्तुओं को भोक्ता होते थे तथा व्यावहारतः विलासी तथा प्रज्ञाशील होते थे। उनकी प्रतिष्ठा उनकी शक्ति में नियोजित होती थी तथा शासन–प्रशासन उनका परम उद्देश्य था।[12] क्षत्रियों की स्थिति को सामाजिक संस्तरण में प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित करना तथा उन्हें सर्वोत्तम उद्घोषित करना[13] अपने आप में सर्वथा अनूठा प्रयोग ही कहा जा सकता है, जिसका स्वागत समाज ने समवेत रूप में शायद ही किया होगा।

बुद्ध जैसे महिमामण्डित महात्मा से यह अपेक्षा कदापि नहीं है कि उन्होंने ब्राह्मणों की सामाजिक अवस्था का विरोध किया होगा। सैद्धांतिक विरोध वस्तुतः समीचीन विरोध की सीमा में आता है और ऐसे विरोध का स्वागत किया जाना चाहिए, इससे परिशोधन होता है तथा साम्प्रदायिक विरोध से समाज में समरसता आती है।[14] महात्मा बुद्ध सम्प्रदायवाद के विरोधी थे।

योग्य ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुए पाए जाते है।[15] किंतु ब्राह्मणों के आडंबरों, दूषित पुरोहितवाद, हिंसात्मक यज्ञों, पशुबलि, जन्मना जाति सिद्धांत तथा उससे संबंधित विशेषाधिकारों एवं अतार्कित सुविधाओं के प्रबल निदक थे। शीलवान ब्राह्मणों का उनकी दृष्टि में अभाव था। अतएव गुणवान वेदग ब्राह्मणों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे और बुद्ध अपने को उत्तम ब्राह्मण तथा वेदगू कहकर गौरव का अनुभव करते हुए पाये जाते है।[16] वेदविज्ञ एवं यज्ञविद होना ब्राह्मणों की न केवल प्राथमिक विशेषता है अपितु कर्त्तव्य है। यह अलग बात है कि वेदविद तथा यज्ञविद की बुद्ध की अपनी व्याख्या थी, जिसके सांचे में विरले ब्राह्मण ही आ पाते थे। वस्तुतः बुद्ध ब्राह्मणों में सन्यासी ब्राह्मण तथा अध्यापक (गुरू) ब्राह्मण के रूप ढूंढ़ते थे।[17] इस स्थल पर यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि महात्मा बुद्ध ब्राह्मण एवं भ्रमण दोनों में मानसिक, वाचिक तथा कायिक रूप में विशुद्ध होना जितेन्द्रिय होना, अनल्य ज्ञानी होना अपरिहार्य गुण बताया है। ऐसी दशा में ब्राह्मण एवं भ्रमण दोनों परस्पर गुण बताया है। ऐसी दशा में ब्राह्मण एवं भ्रमण दोनों परस्पर पूरक लगते हैं। धम्म पद में जब बुद्ध यह कहते है कि कोई भी व्यक्ति मुक्ति का मार्ग अंगीकार करते हुए साधारण एवं साहाणुता का जीवन व्यतीत करते हुए सदगतियों के आधार पर ब्राह्मण हो सकता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण होना सर्व सामान्य के लिए सहज नहीं है, क्योंकि आचरण की जिस पवित्रता की कसौटी पर बुद्ध ब्राह्मण को कसना चाहते है निश्चय ही उस पर ब्राह्मण ही खरा उतर सकता था, क्योंकि त्यागवृत्ति, सहिष्णुता, पवित्रता, सत्यता, नैतिकता उसका सहजात गुण है जबकि अन्य किसी के लिए वह आयातित गुण हो सकता है, जिसमें सातव्य का अभाव होता है। ब्राह्मण अपनी आचरणगत पवित्रता एवं मूल्यों के कारण पूज्यनीय था। आर0 फिक[18] ने अवधारित किया है कि सम्पत्ति हीन तपस्वी[19] ब्राह्मण ही बौद्धों की दृष्टि में सम्मानित था।

वैश्यों के प्रति बौद्ध ग्रंथों में बड़ी ही सम्मानित धारणा की अभिव्यक्ति प्राप्य है जिसका प्रधान कारण वाशम ने वैश्यों की उदार दानवृत्ति बतलाया है।[20] बुद्ध ने वैश्य को पारिभाषित किया है कि मैथुन कार्य में लिप्त तथा विभिन्न कार्य–व्यापारों में फंसे व्यक्ति वैश्य है।[21] वैश्यों के जीवन का उद्देश्य भोज्य पदार्थों का संचय करना, प्रज्ञावान बनना तथा विभिन्न शिष्ल्यों तथा विभिन्न शिल्यों में दक्ष बनकर गृहस्थी के दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वहन करना है।[22] बुद्ध काल तक वैश्यों की स्थिति काफी सबल हो चुकी थी तथा ये अनेक वर्गों में वर्गीकृत हो चुके थे। बौद्ध साहित्य में वर्णित श्रेष्ठी वर्ग तथा महासाल गृहपति भी इसी कोटि में आगणित होते हैं।

बुद्ध युग में शूद्रों की परम्परागतहीन स्थिति में कोई विशेष सुधार दृष्टिगत नहीं होता है। किंतु बुद्ध का शूद्रों के प्रति दृष्टिकोण अत्यंत उदार था और उन्होंने शूद्रों को जन्म से हीन न मानकर कर्म से हीन माना है।[23] शूद्रों को अधिक स्नेह देने के बाद भी बौद्ध धर्म से संबंधित योग्य व्यक्तियों की सूची में तथा परिषदों की अनेक गणनाओं में शूद्रों का नामोल्लेख नहीं होना[24] आश्चर्यजनक है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलना अत्यंत सहज है कि शूद्रों का व्यवहारिक दृष्टि से सधर्म में गणनीय स्थान नहीं था।

महात्मा बुद्ध ने गृहस्थों के कर्म, व्यवहार तथा आचरण पर भी रोशनी डाली, जिसका

समाज में बड़ा ही अनुकूल प्रभाव पड़ा। तथागत ने ऐसे समाज की संकल्पना की जिसके सभी सदस्य पुरूषार्थी हो और वे समाज के सदस्यों के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार हो। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय समर्पित समाज का सदा माता–पिता के प्रति कर्त्तव्य निष्ठ हो तथा कृतज्ञ हो। स्पश्ट है कि बुद्ध के आदर्श समाज का सदस्य पूर्णरूपेण प्रशंसित गृहस्थ है। बुद्ध का गृहस्थ भिक्षु–भिक्षुणियों का समादर करने वाला है। ब्राह्मचारियों को उदारतापूर्वक दान देने वाला है, धार्मिक है, प्रज्ञावान है, राजाओं, देवताओं जाति बंधुओं का हितैशी तथा सभी के लिए हित कारक है।[25] स्पष्टतः कहा जा सकता है कि तथागत जीवन के सभी क्षेत्रों में अनूठे आदर्श के संस्थापक थे और इसकी पुष्टि सिगालोवाद सुत्त से हो जाती है। नैतिकता के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक था। ब्रह्मचर्य पालन, जीव हिंसा से विरति, सत्य भाषण उनके वचनों में निर्दिष्ट थी। द्वेष, मोह, भय के वशीभूत हो धर्मातिक्रमण करना सर्वथा वर्जित था। यदि गुरू को शिष्य का रक्षक एवं सम्पोषक बताया गया तो वही शिष्य को गुरू भक्त होने का निर्देश दिया।

गृहस्थ को 'अतिथि देवो भवः' की अवधारणा का वाहक बताया गया। भ्रमण, ब्राह्मण गृहस्थ के लिए पूज्यनीय बताये गये। गृहस्थ उनके प्रति मनसा–वाचा–कर्मणा समर्पित रहे, भक्ति–भाव रखे तथा प्रत्येक याचक को उदारता पूर्वक श्रद्ध युक्त होकर दान देकर तृप्त करे, क्योंकि दान से भौतिक सुख, प्रतिष्ठित स्वर्ग की प्राप्ति तथा देवताओं के सान्धि में आनंदानुभूति होती है।[26] तथागत ने ब्राह्मण–भ्रमणों से भी अपेक्षा की कि वे गृहस्थों को पाप मुक्त करें तथा कल्याण मार्ग की ओर उन्हें प्रवृत्त कराकर स्वर्ग की ओर उन्मुख करें तथा उन्हें प्रज्ञावान बनाकर सदकार्यों की ओर उन्हें प्रवृत्त करें।

सिग्गलोवाद सुत्त में बुद्ध द्वारा दिया गया निर्देश बहुत ही आकर्षक है। बुद्ध द्वारा सिगाल के छः दिशाओं के प्रणाम का खंडन और उनके स्थान पर माता–पिता, गुरू–आमात्य, भ्रमण ब्राह्मण, मित्र, दास, भ्रत्य को ही सत्कारणीय दिशायें बताना, वास्तव में व्यक्ति को व्यावहारिक जगत से जोड़ने और उसके सामाजिक नैतिक कर्त्तव्यों की पूर्त्ति का ही उपदेश था। तथागत क्रोधी व्यक्ति के घोर निदक थे। उसे समाज की अमन चैन को भंग करने वाला मानते थे। इसीलिए बुद्ध निरंतर समाज में षांति स्थापना हेतु समृद्ध दिखायी पड़ते है। विवाद की परिशांति हेतु दोनों पक्षों के समक्ष परस्पर हितकर वचन कहकर निर्णय देना तथा उभयपक्ष की सहमति से मुकदमा समेटना बुद्ध द्वारा अनुमत था।

बुद्ध की दृष्टि नगर सभ्यता के दुर्गुणों पर भी गयी थी। मदपान, असमय भ्रमण, समज्जा सेवक, धूत–क्रीड़ा आदि से विरत रहने का उपदेश दिया। बुद्ध परिवार में माता–पिता को ब्रह्मतुल्य स्थान के पोषक थे।[27] माता–पिता का पोषण एवं सेवा को बुद्ध इतना अधिक महत्व दिया कि गृहस्थों के अतिरिक्त भिक्षु–भिक्षुणियों के लिए भी इसे अनुमत कर दिया। माता–पिता का भरण–पोषण, उनके कृत्यों का संपादन, उनकी संतुष्टि के लिए वंश परंपरा कायम रखना, भावी पीढ़ी के लिए सन मार्ग दिखाना आदि कर्त्तव्य निरूपित किया गया है। स्त्रियों के विषय में बुद्ध के विचार अत्यंत उदार थे और किन्हीं क्षेत्रों में वे पुरूषों से अधिक महत्व महिलाओं को देते है।[28] किंतु स्त्रियों की स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं दिखाई पड़ते है क्योंकि उनका यह कहना

कि पुरूष स्त्री का अलंकरण आच्छादन एवं आश्रम है[29] मनुस्मृति में लगभग ऐसा ही कथन व्याप्त है।[30] बुद्ध का स्पष्ट उल्लेख था कि स्त्रियों पुरूषों की तुलना में ईष्यालु, हीन कोटि की तथा मुर्ख होती है।[31] पति तथा पति–परिवार की सेवा उसका परम ध्येय था।[32] पत्नी के रूप में दासी भार्या ही प्रशंसित थी[33] स्त्रियों के भिक्षुणी के रूप में संघ प्रवेश के विषय में बुद्ध के संकोच से शंका होती है कि यह सम्भवतः भिक्षुओं में विकारोत्पत्ति की आषंका से संबंधित थी परंतु आठ षर्त्तों पर उनके प्रवेश के विधान से यह प्रतीत होता है कि नारियों की आपेक्षित दृष्टि से असंतुलित एवं हीन मानते थे तथा उन्हें उनके स्वच्छन्द आचरण और संघ कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप का भय था। इन शर्त्तों में भिक्षुणियों को भिक्षुओं के लिए कुछ भी असंगत कहने का निषेध था। इसके विपरीत भिक्षुओं को कुछ भी कहने की छूट पुनः स्थाविर भिक्षुओं को भी नवप्रवाजित भिक्षु को सम्मान देने की आज्ञा इत्यादि सम्मिलित थे।[34]

नारियों की प्रतिष्ठा सन्तानोत्पति तथा उनके मातृत्व में होती है तथा उनके लिए पति प्राप्ति तथा पत्नी होना परम सुख होता है। पालि साहित्य में मनों वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि अलंकरण में स्त्रियों की विशेष–रूचि होती है तथा क्रोध उनका अस्त्र होता है।[35] गौतम के स्त्री–प्रवृत्ति दर्शन और उनकी आध्यात्म क्षेत्र और निर्वाण प्राप्ति की योग्यता को स्वीकार करते हुए संघ प्रवेश के आदेश में संकोच[36] ब्रह्मचर्य पालन में व्यवधान की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण था, साथ ही इस तथ्य का सूचक है कि बुद्ध स्त्रियों के गृहिणी रूप को ही आदर्श मानते थे। यदि इन अवधारणाओं के आलोक में मूल्यांकन किया जाय तो महावग्ग में मगध क्षेत्र में बुद्ध के प्रति लोगों की यह प्रतिक्रिया हुई कि वे घर उजाड़ने वाले है।[37] समीचीन नहीं कहा जा सकता है। बुद्ध का कहना था पति के दिवंगत होने पर पति के दायित्व को भी सम्भालना तथा उसके द्वारा अर्जित वस्तु से बच्चों और परिवार का भरण–पोषण प्रशंसित था।[38] श्रद्धा, शील तथा त्याग से सम्पन्न हो प्रज्ञावान बनने का सुझाव था।[39] बुद्ध की दृष्टि में स्त्रियां परिवार के सुख–दुख में न केवल महावज्ञा थी अपितु अपरिहार्य थी।[40] बुद्ध विश्व के पहले महामानव थे जिन्होंने स्त्री जाति के प्रति सम्मान व समानता की भावना प्रकट की। यह सत्य है कि पहले बुद्ध स्त्रियों को प्रव्रज्या देने के पक्ष में नहीं थे, परंतु कुछ समय पश्चात् स्त्रियों की उत्कट इच्छा को दृष्टि में रखकर उन्होंने भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर लिया इससे स्त्रियों की दशा में बहुत बदलाव देखने को मिले।

बुद्ध के विचारों तथा भावनाओं पर दृष्टिपात करने के बाद हम समझ सकते है कि वे इसके माध्यम से समाज में एवं समाज के प्रत्येक वर्गों में चाहे उनकी स्थिति समाज में कैसी भी हो, सुधार करने तथा उसमें सफल बदलाव लाने का प्रयास किया। जिससे उनकी स्थिति में साकारात्मक सुधार हो सके। वे चारों वर्गों के साथ–साथ महिलाओं की स्थिति को भी ऊपर उठाने का हरसंभव प्रयास किया। इसके पूर्व महिलाएं खुद को जंजीर से आजादी उन्हें बौद्ध धर्म के आगमन के बाद ही मिली।

संदर्भ ग्रंथ

1. झा एवं श्रीमाली, *प्राचीन भारत का इतिहास*, दिल्ली, 2005, पृ0 – **158–159**
2. पाण्डेय गोविन्दचन्द्र, *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*, लखनऊ, 1990, पृ0 – **310**

3. शर्मा आर0 एस0, *प्रारंभिक भारत का परिचय,* ओरियण्ट लाग मैन, नई दिल्ली, 2004, पृ0 – **142**
4. ओल्डनवर्ग हर्मान, *बुद्ध हिजलाइफ, हिज डाकिट्न ए आर्डर,* लंदन, 1882, पृ0 – **382**
5. मूर्त्ति टी0 आर0 वी0, *दी सेन्ट्रल फिलोस्फी ऑफ बुद्धिजम,* लंदन, 1960, पृ0 – **604**
6. विनय चुल्लवग्ग, 8–1–4
7. अगुत्तर निकाय, 5–18–7
8. मझिम निकास, 2.**482–483**
9. संयुक्त निकास, **55–24**
10. वही, **55–24**
11. विनय भाग – **1–38–1**
12. छान्दोग्योपनिषद्, **2–15**
13. झा द्विजेन्द्र नारायण, *प्राचीन भारत,* ग्रंथ शिल्पी, 2000, पृ0 – **78**
14. वही, पृ0 – **122**
15. वाशम, ए0 एल0 अदभुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2002, पृ0 – **287**
16. वहीं, पृ0 – **175**
17. अंगुत्तर निकाय, 7–5–10 (नन्दमाता सुत्त)
18. पाण्डेय गोविन्दचन्दु, पूर्वोक्त, पृ0 – **492**
19. झा, द्विजेन्द्र नारायण, पूर्वोक्त, पृ0 – **202**
20. वहीं, पृ0 – **109**
21. सिंह, मदन मोहन, बुद्ध कालीन समाज एवं धर्म, पटना, 1972, पृ0 – **68**
22. विनय चुल्लवग्ग, 5–21 मझिम निकाय बोधिराज कुमार सुत्ता।
23. अंगुत्तर निकाय, 6–5–10, सूत्तिय सुत्त।
24. ओल्डेनवर्ग, पूर्वोक्त, पृ0 – **153**
25. पाण्डेय गोविंदचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0 – **390**
26. वाशम, ए0 एल0, हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन ऑफ आजीविकाज, ए वैलिड इण्डियन टेलिविजन, लंदन 1951, पृ0 – **133–34**
27. वहीं, पृ0 – **202**
28. अंगुत्तर निकाय, 6–5, 10 (सूत्तिय सुत्त)
29. वहीं, 5–44, 5–45
30. वहीं, 7–6–11, कोधन सुत्त।
31. वहीं, 7–8–10

32. अंगनेलाल, उत्तर प्रदेश के बौद्ध केंद्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2006, पृ0 – **13**
33. वहीं, पृ0 – **85**
34. विधालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, नई दिल्ली, 2002, पृ0 – **208**
35. वहीं, पृ0 – **225**
36. वहीं, पृ0 – **208**
37. मनुस्मृत, **9–3**
38. अगुत्तर निकाय, 4–9–10
39. विनय, चुल्लवग्ग, 10–1–3
40. वहीं, 37–1